सेवा : अर्थ और सही समझ

□ साध्वी श्री यशोधरा

(युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी की शिष्या)

सेवा सामुदायिक जीवन का मौलिक आधार है किन्तु प्रायः लोग भिन्न रुचि वाले होते हैं। इसलिये इस अधिकार का प्रयोग सब लोग एक जैसा नहीं करते हैं, ऐसे लोगों को भगवान् महावीर ने चार वर्गों में विभाजित किया है, यथा—

(१) कुछ लोग दूसरों से सेवा लेते हैं पर देते नहीं।
(२) कुछ लोग दूसरों को सेवा देते हैं पर लेते नहीं।
(३) कुछ लोग सेवा लेते भी हैं और देते भी हैं।
(४) कुछ लोग न सेवा लेते हैं और न देते हैं।

सामुदायिक जीवन में तीसरा विकल्प ही सर्वमान्य हो सकता है। संघीय सदस्यों की परस्परता का पहला सूत्र है—सेवा का आदान-प्रदान। यह एक ऐसा सशक्त माध्यम है, जिसमें परस्पर तादात्म्य, समत्व और अभिन्नता स्थापित होती है।

सेवा का अर्थ एक दूसरे के काम में सहभागी होना, सहयोग करना या काम में व्यापृत होना ही नहीं है—यह तो मात्र व्यवहार है। सेवा की गहराइयों में डुबकी लगाएँ तो रहस्य स्वयं उद्घाटित हो जायगा कि सेवा का अर्थ है—समग्रता की अनुभूति का प्रयोग। महावीर के दर्शन की सेवा के सन्दर्भ में समझें तो पाएँगे कि इसकी अन्तर्तप के भेदों में गणना हुई है। जिसके मानस में करुणा का सागर लहराता है, वही दूसरे के दुःख को अपना दुःख एवं दूसरे की अपेक्षा को अपनी अपेक्षा समझता है, दूसरे के शरीर को अपना शरीर मानता है। ममत्व की ग्रन्थि टूट जाती है और समता की सरिता फूट पड़ती है। आचार्य श्री तुलसी के शब्दों में—

सेवा शाश्वतिको धर्मः, सेवा भेदविसर्जनम्।
सेवा समर्पणं स्वस्य, सेवा ज्ञान-फलं महत्॥

सेवा शाश्वत धर्म है। सेवा—यह मेरा है, यह तेरा है, इस भेद का विसर्जन करती है। सेवा सेव्य में विलीन होकर ही की जा सकती है। सेवा ज्ञान की उत्कृष्ट उपलब्धि है। तभी तो अन्तश्चेतना से किसी के ये स्वर मुखर हुए—

सेवाधर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः।

स्वार्थ की भूमिका से ऊपर उठकर की जाने वाली सेवा में लेखा-जोखा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इस सन्दर्भ में कितनी वेधक हैं ये पंक्तियाँ—

सच्ची सेवा में कभी, रहता नहीं हिसाब।
शिशु-सेवा की मात ने रखी कहीं किताब?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेवा किसी दूसरे की नहीं की जाती। सेवार्थी स्वयं ही सेवा करता है। जिस सेवा में शर्त होती है वह सेवा नहीं, क्रिया की प्रतिक्रिया है, दी हुई सेवा के प्रतिदान की याचना है और है एक प्रकार का व्यापार। सही दृष्टिकोण और यथार्थ प्रक्रिया से जो सेवा का व्रत लेता है, उसके शरीर में न रोग रहता है, न मन में चिन्ता। न हृदय में भय रहता है, न बुद्धि में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया। और न आत्मा में अपने-पराए का भेदभाव। सेवा में मुख्यतः पाँच बातें ध्यातव्य हैं—

(१) बिना किसी भेदभाव के सेव्य के प्रति श्रद्धाभाव।

(२) निष्काम भाव से सेवा कर हम किसी पर उपकार नहीं करते, प्रत्युत हमें सेवा का अवसर देकर हमारी सेवा स्वीकार कर वह हमें उपकृत करता है--ऐसा स्वस्थ चिन्तन।

(३) जिसकी सेवा करते हैं, उसके लिके सामर्थ्यानुसार समय और श्रम की पहले से सुरक्षा।

(४) उसकी अपेक्षाओं, आवश्यकताओं के प्रति सजगता।

(५) सेव्य व्यक्ति की रोग आदि से मुक्ति के लिए सतत मंगल भावना।

महावीर ने कहा—श्रमण निर्ग्रन्थ अग्लान भाव से आचार्य, उपाध्याय स्थविर, तपस्वी, शैक्ष, कुल, गण, संघ और साधर्मिक की वैयावृत्त्य करने वाला महान् कर्मक्षय और आत्यन्तिक पर्यवसान करने वाला होता है। शिष्य ने पूछा—भंते ! गुरु और सधार्मिक की शुश्रूषा (पर्युपासना) से जीव किस तत्त्व को उपलब्ध होता है? भगवान् ने उत्तर दिया गुरु और साधर्मिक की सेवा से वह विनय को प्राप्त होता है, विनय-प्राप्त व्यक्ति गुरु का अविनय नहीं करता, परिवाद नहीं करता। इसीलिए वह नैरयिक, तिर्यंच-यौनिक, मनुष्य और देव सम्बन्धी दुर्गति का निरोध करता है। श्लाघा, गुण प्रकाशन, भक्ति और बहुमान के द्वारा मनुष्य और देव सम्बन्धी सुगति का मार्ग प्रशस्त करता है। विनयमूलक समस्त प्रशस्त कार्यों को सिद्ध करता है और अनेक अनेक व्यक्तियों को विनय पथ पर गतिशील करता है।

एक रुग्ण या असमर्थ व्यक्ति के साथ स्वयं तीर्थंकरों ने इतना तादात्म्य स्थापित किया है कि उनकी वाणी के वातायन से सहज झाँका जा सकता है, यथा—

"जे गिलाणं पडियरइ, से मं पडियरति"—जो ग्लान साधु की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है। ग्लान साधु की अग्लानभाव से सेवा करने वाला मेरी भूमिका तक पहुँच जाता है, तीर्थंकर हो जाता है। "सव्वं किल-पडिवाई वेयावच्चं अपडिवाई" संसार में सब कुछ प्रतिपाती है। एकमात्र वैयावृत्त्य ही ऐसा तत्त्व है जो अप्रतिपाती है। वैयावृत्त्य में व्यापृत मुक्ति एकान्त निर्जरा का भागी होता है।

बौद्ध साहित्य में भी सेवा पर अत्यधिक बल दिया है। विनयपिटक में एक घटना का उल्लेख किया गया है कि—एक भिक्षु को विशूचिका की बीमारी हो गई। बुद्ध चहल-कदमी करते हुए वहीं जा पहुँचे। उन्होंने देखा गन्दगी से लथपथ छटपटाते एक भिक्षु को। कोई परिचारक नहीं। मन करुणा से भर गया। भिक्षुओं को आमन्त्रित किया। पूछने पर भिक्षुओं ने बताया—यह किसी का सहयोग नहीं करता था, इसलिये हमने भी इसकी उपेक्षा की। बुद्ध ने स्वयं नहलाया, उसकी चिकित्सा की समुचित व्यवस्था की। और उसी दिन से अपने भिक्षु-संघ में यह विधान किया कि प्रत्येक भिक्षु अपना धर्म मानकर ग्लान भिक्षु की सेवा करे अन्यथा वह दोष का भागी होगा।

महावीर ने कहा—साधु विहार कर जिस गाँव से गुजरे वहाँ यदि कोई रुग्ण साधु या साध्वी विद्यमान हो तो उनसे सेवा के लिए पूछताछ करे। अपेक्षा हो तो वहाँ रहे, आवश्यकता न हो तो अन्यत्र चला जाए। पता चलने पर भी यदि उपेक्षाभाव से आगे बढ़ता है, तो वह संघीय अनुशासन का भंग करता है और प्रायश्चित्त का भागी होता है। सेवा संघीय प्रभावना का महत्त्वपूर्ण अंग है। वैयावृत्त्य क्यों करें? इसके समाधान में चार कारणों का उल्लेख किया गया है—

(१) समाधि उत्पन्न करना।

(२) विचिकित्सा ग्लानि का निवारण करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) प्रवचन वात्सल्य प्रकट करना ।

(४) सनाथता—निःसहायता या निराधारता की अनुभूति न होने देना ।

व्यवहारभाष्य में प्रत्येक वैयावृत्त्य स्थान के तेरह द्वार उल्लिखित हैं जैसे—

(१) भोजन लाकर देना । (२) पानी लाकर देना, (३) संस्तारक करना (४) आसन देना, (५) क्षेत्र और उपधि का प्रतिलेखन करना, (६) पाद-प्रमार्जन करना, (७) औषधि पिलाना, (८) आँख का रोग होने पर औषधि लाकर देना, (९) मार्ग में विहार करते समय भार लेना तथा मर्दन आदि करना, (१०) राजा आदि के क्रुद्ध होने पर उत्पन्न क्लेश से निस्तार करना एवं शरीर को हानि पहुँचाने वाले व उपधि चुराने वालों से संरक्षण करना । (११) बाहर से आने पर दण्ड (यष्टि) ग्रहण करना, (१२) ग्लान होने पर उचित व्यवस्था करना, (१३) उच्चार, प्रस्त्रवण और श्लेष्म-पात्र की व्यवस्था करना ।

तेरापंथ धर्मसंघ के दर्पण में भी शासन-सम्मत सेवा के आदर्श स्पष्टता से प्रतिबिम्बित हुए हैं । आचार्य भिक्षु ने सेवाभावना पर अत्यन्त बल दिया है । उन्होंने कहा—जो साधु रुग्ण, ग्लान की सेवा से इन्कार करता है, वह महान् दोष का भागी है । इससे सेवा-भावना को पोषण मिला । अपनी लौह-लेखनी से सेवा की दृष्टि से उन्होंने विधान पत्र में कुछ धाराएँ लिखीं—

(१) कोई साधु रुग्ण हो या बूढ़ा हो, तब दूसरे साधु अग्लानभाव से उसकी सेवा करें ।

(२) उसे संलेखना—विशिष्ट तपस्या करने को न उकसाएँ ।

(३) वह विहार करना चाहे और उसकी आँखें दुर्बल हो तो दूसरा साधु उसे देख-देखकर चलाए ।

(४) वह रुग्ण हो तो उसका बोझ दूसरे साधु लें ।

(५) उसका मन चढ़ता रहे, वैसा कार्य करे ।

(६) उसमें साधुपन हो तो उसे 'छेह' न दें—छोड़े नहीं ।

(७) वह अपनी स्वतन्त्र भावना से वैराग्यपूर्वक संलेखना करना चाहे तो उसे सहयोग दें, उसकी सेवा करें ।

(८) कदाचित् एक साधु उसकी सेवा करने में अपने को असमर्थ माने तो सभी साधु अनुक्रम से उसकी सेवा करें ।

(९) कोई सेवा न करे तो उसे टोका जाए और उससे कराई जाए ।

(१०) रुग्ण साधु को सब इकट्ठे होकर कहें, व आहार दिया जाए ।

उन्होंने शारीरिक अयोग्यता वाले व्यक्ति को गण में रखने योग्य बतलाया है । उन्होंने वैसे व्यक्ति को गण में रखने के अयोग्य बतलाया है जो अपने स्वभाव पर नियन्त्रण न रख सके ।

एक छोटी सी घटना है—उनके प्रिय शिष्य हेमराजजी स्वामी गोचरी गए । दो दालें साथ मिलाकर लाए । मूँग की दाल और चने की दाल । स्वामीजी ने कहा—क्या है ? हेमराजजी स्वामी ने उत्तर दिया—महाराज दाल है । कैसी दाल ? यह लगती है, पतली और जाड़ी कैसे ? उन्होंने कहा—मूँग और चने की दाल है । स्वामीजी ने कहा—मिलाकर कैसे लाए ? उत्तर मिला—दाल, दाल है । क्या फर्क पड़ता है ? यह भी दाल है, वह भी दाल है । आचार्य भिक्षु ने कहा—फर्क तो नहीं पड़ता होगा, पर कोई बीमार साधु हो और उसे मूँग की दाल की जरूरत हो तो चने की दाल कैसे खप सकती है ? तुमने क्यों मिलाया ? उस प्रमाद के लिए आचार्य भिक्षु ने इतना बड़ा उलाहना दिया कि हेमराजजी स्वामी जैसे मुनि के लिए भी झेल पाना काफी कठिन हो गया ।

एक प्रसंग मिलता है कि मुनि श्री चिरंजीलालजी के साथ मुनि तिरखाराम थे । मुनिश्री अस्वस्थ हो गए । अतिसार की बीमारी से ग्रस्त । सेवा का प्रसंग उपस्थित हुआ । मुनि तिरखारामजी इन्कार हो गए । जब पूज्य आचार्य प्रवर डालगणी की सन्निधि में साधु-समूह उपस्थित हुआ, पूछताछ की गई, तब उस साधु ने बताया मुझे सूग (घृणा)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आती है। मैं किसी का मल-मूत्र नहीं उठा सकता। पूज्य डालगणी ने कहा—यदि तुम बीमार हो गए तो तुम्हारी परिचर्या कौन करेगा? संघ में वह रहने के योग्य नहीं जो समय पर सेवा से जी चुराता है। उनका संघ विच्छेद कर दिया गया।

आत्मीयता की परख का यही समय होता है। कौन अपना है—कौन पराया? किसी से पूछने की अपेक्षा नहीं होती। जब शक्तियाँ क्षीण होती हैं, व्यक्ति अपने आपको असहाय अनुभव करता है। उस समय उसका अभिन्न बनकर जो सहयोग करता है, वही होता है—सच्चा आत्मीय।

एक बार ब्यावर में एक साध्वी बीमार हो गई। उन्हें सुजानगढ़ लाना जरूरी था। साध्वीश्री अणचांजी ने उन्हें कन्धे पर बिठाकर सुजानगढ़ पहुँचा दिया। ऐसे एक नहीं तेरापंथ धर्मसंघ में अनेक घटना प्रसंग हैं जिन्हें देख-सुनकर विरोधी से विरोधी व्यक्ति भी यह कहने के लिए विवश हो जाता है कि तेरापंथ धर्मसंघ की सेवा-भावना बेजोड़ है।

चिकित्सा के चतुष्पाद होते हैं—वैद्य, रोगी, औषध और परिचारक। चारों में से एक का भी अभाव चिकित्सा को असफल करता है। सेवा देना और लेना अपने आप में एक कला है। सेवा देने वाला कितना भी कुशल क्यों न हो पर लेने वाला यदि अयोग्य है तो वह कभी समाधि का वरण नहीं कर सकता। प्रत्युत परिचारक के उत्साह को भी क्षीण कर देता है। विनयपिटक में उस ग्लान या सेवाप्रार्थी को अयोग्य बतलाया है जो—

(१) साथियों के अनुकूल करने वाला नहीं होता। (२) अनुकूल की मात्रा नहीं जानता। (३) औषध सेवन नहीं करता। (४) हितेच्छुक परिचारक से ठीक-ठीक रोग की बात प्रकट नहीं करता। (५) दुःखमय, तीव्र, कटु, प्रतिकूल, अप्रिय और प्राणहर शारीरिक पीड़ा सहने में अक्षम होता है। ऐसे व्यक्ति की सेवा करना दुष्कर, दुष्करतर है।

वह परिचारक भी अयोग्य है जो—

(अ) दवा ठीक नहीं कर सकता।

(ब) अनुकूल-प्रतिकूल (वस्तु) को नहीं जानता।

(स) प्रतिकूल को देता है, अनुकूल को हटाता है।

(द) मल-मूत्र, थूक और वमन को हटाने में घृणा करता है।

(य) रोगी को समय-समय पर धार्मिक कथा द्वारा समुत्तेजित और सम्प्रहर्षित करने में समर्थ नहीं होता।[1]

सेवा लेने और देने के तीसरे विकल्प में से हम सब गुजरते हैं। अपेक्षा है—हम उसकी अर्हता प्राप्त करें। सेवा लेने में हीनता की अनुभूति न हो और देने में उत्कर्ष की। हम किसी की सेवा कर उस पर एहसान नहीं करते, प्रत्युत अपने आत्मधर्म को पुष्ट करते हैं। अतः कवि की मार्मिक पंक्तियाँ प्रतिक्षण हमारी अन्तश्चेतना को झंकृत करती हैं—

गर थामो किसी का हाथ न करो अभिमान यह तुम्हारा फर्ज है।
कहीं पानी भी पीओ तो समझो उसका तुम्हारे पर कर्ज है॥
छोटे-मोटे उपकारों का तुम न लगाओ हिसाब इतना।
तुमने अच्छा किया या बुरा कुदरत के रजिस्टर में सब दर्ज है॥

---

१. विनयपिटक (३ महावग्ग ८।७।२, ४)

□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org